

# समाधि और सल्लेखना

लेखक :

अध्यात्म रत्नाकर पण्डित रतनचन्द भारिल्ल  
शास्त्री, न्यायतीर्थ, एम.ए., बी.एड  
प्राचार्य - श्री टोडरमल दि. जैन सिद्धान्त महाविद्यालय, जयपुर

प्रकाशक :

श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् ट्रस्ट  
१२९ जादोन नगर 'बी' स्टेशन रोड, दुर्गापुरा, जयपुर

प्रथम संस्करण : २ हजार  
(१५ अगस्त, २००४)  
द्वितीय संस्करण : ३ हजार  
(संशोधित एवं संबद्धित संस्करण\*)  
(३१ मार्च महावीर जयन्ती)

**प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने  
दाले दातारों की सूची**

श्री शान्तिलालजी अलवरवाले जयपुर	५००.००
श्री मूलचन्दजी छाबड़ा, जयपुर	५००.००
श्रीमती कमलाबाई भारिल्ल, जयपुर	५००.००
श्रीमती कुसुम विमलकुमारजी 'नीरू केमिकल्स', दिल्ली	२०१.००
श्री शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज	२०१.००
श्रीमती कान्ताबाई पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर	२०१.००
श्रीमती नीलू राजेशकुमार काला इन्दौर	२०१.००
ब्र. कुसुमताई पाटील, कुम्भौज	२०१.००
श्रीमती पतासीदेवी इन्द्रचन्दजी पाटनी, लाडनूँ	२०१.००
श्रीमती रश्मिदेवी वीरेशजी कासलीवाल, सूरत	२०१.००
श्रीमती पानादेवी मोहनलालजी गोहाटी	१०१.००
श्रीमती हीराबाई चुन्नीलाल जैन पारमार्थिक ट्रस्ट, जयपुर	१०१.००

मूल्य : पाँच रुपए

मुद्रक :  
प्रिन्टोमैटिक्स  
स्टेशन रोड,  
दुर्गापुरा, जयपुर-३०२०१८

कुल राशि ३,१०९.००

## आत्मकथ्य

समाधि है जीवन जीने की कला

क्रोधादि मानसिक विकारों का नाम है 'आधि',  
शारीरिक रोग का दूसरा नाम है 'व्याधि'।  
पर में कर्तृत्व बुद्धि का बोझ है 'उपाधि',  
उपर्युक्त तीनों विकृतियों से रहित -  
शुद्धात्मस्वरूप में स्थिरता का नाम है 'समाधि' ॥

समाधि की समझ से होती है आत्मा की प्रसिद्धि,  
समाधि की साधना से होती है सद्गुणों में अभिवृद्धि।  
और बढ़ती है आत्म शक्तियों की समृद्धि,  
जो पुनः-पुनः पड़ेगा इसे उसके आत्मा में होगी विशुद्धि -  
और होगी सुख-शान्ति तथा गुणों में गुणात्मक वृद्धि ॥

'सल्लेखना' है मृत्यु महोत्सव का जलजला,  
इससे होता है आत्मा का भला।  
बन्धु! इसे न समझो बला, अन्यथा यों ही-  
चलता रहेगा संसरण का सिलसिला ॥

अब तक संयोगों के राग में यों ही गया छला,  
मैं अकेला ही आया था और अब अकेला ही चला।  
समाधि है जीवन जीने की कला,  
इसी से पहुँचते हैं सिद्ध शिला ॥

\* समाधि-साधना और सिद्धि का नया रूप

## प्रकाशकीय

श्री अ.भा. दि. जैन विद्वत्परिषद् ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित होनेवाली पुस्तकों की श्रृंखला में 'समाधि-साधना और सिद्धि' का यह द्वितीय संशोधित और संबर्द्धित संस्करण है। इस कृति को अधिक उपयोगी और प्रभावी बनाने हेतु लेखक द्वारा 'मंगलायतन' के सल्लेखना सम्बन्धी विशेषांकों का उपयोग किया गया है, जिससे यह कृति और भी अधिक उपयोगी बन गई है।

सिद्धान्त चक्रवर्ती आ. श्री विद्यानन्दजी की प्रेरणा से जब विद्वत् परिषद् ट्रस्ट द्वारा सत्साहित्य प्रकाशन का निर्णय लिया तो सभी सदस्यों को सामायिक निर्णय बहुत अच्छा लगा। इस निर्णय से एक लाभ तो यह होगा कि विद्वत्परिषद् के रचनात्मक कार्य को बल मिलेगा और दूसरा सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि समाज को सस्ती दरों पर श्रेष्ठ साहित्य मिलेगा।

ट्रस्ट के माध्यम से अब तक १. अध्यात्म बारहखड़ी, २. मंगलतीर्थ यात्रा, ३. चतुरचितारणी, ४. इष्टोपदेश, ५. ज्ञानामृत, ६. क्षत्रचूड़ामणि परिशीलन, ७. जैन जाति नहीं धर्म है, ८. श्रावकाचार : दिशा और दृष्टि, ९. शुद्धोपयोग विवेचन, १०. बसंत तिलका, ११. क्षत्रचूड़ामणि तथा १२. प्रतिबोध, १३. समाधि-साधना और सिद्धि तथा १४. छहढाला का सार जैसी चौदह पुस्तकों का प्रकाशन हो चुका है। जिन्हें समाज में देकर हम गौरवान्वित हैं।

अनेक पुस्तकों के लोकप्रिय लेखक सिद्धान्तसूरि विद्वत्वर्य पण्डित श्री रतनचन्दजी भारिल्ल की यह कृति समाधि-साधना और सिद्धि अब नये रूप में समाधि और सल्लेखना के नाम से प्रस्तुत है। आशा है इस कृति के माध्यम से आप सभी समाधि और सल्लेखना के वास्तविक अर्थ को समझेंगे और इसे जीवन में अपना कर आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त करेंगे।

– अखिल बंसल

संयोजक, साहित्यप्रकाशन समिति, श्री अ.भा.दि. जैन वि.प. ट्रस्ट

## समाधि और सल्लेखना

सन्यास और समाधि है जीना सिखाने की कला।  
बोधि-समाधि साधना शिवपंथ पाने की कला।।  
सल्लेखना कमजोर करती काय और कषाय को।  
निर्भीक और निःशंक कर उत्सव बनाती मृत्यु को।।

मरण और समाधिमरण - दोनों मानव के अन्तकाल (परलोक गमन) की बिल्कुल भिन्न-भिन्न स्थितियाँ हैं। यदि एक पूर्व हैं तो दूसरी पश्चिम, एक अनन्त दुःखमय और दुःखद है तो दूसरी असीम सुखमय व सुखद। मरण की दुःखद स्थिति से सारा जगत सु-परिचित तो है ही, भुक्त-भोगी भी है। पर समाधिमरण की सुखानुभूति का सौभाग्य विरलों को ही मिलता है, मिल पाता है।

आत्मा की अमरता से अनभिज्ञ अज्ञानों की दृष्टि में 'मरण' सर्वाधिक दुःखद, अप्रिय, अनिष्ट व अशुभ प्रसंग के रूप में ही मान्य रहा है। उनके लिए 'मरण' एक ऐसी अनहोनी अघट घटना है, जिसकी कल्पना मात्र से अज्ञानियों का कलेजा काँपने लगता है, कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है, हाथ-पाँव फूलने लगते हैं। उन्हें ऐसा लगने लगता है मानो उन पर कोई ऐसा अप्रत्याशित-अकस्मात अनभ्र वज्रपात होनेवाला है जो उनका सर्वनाश कर देगा, उन्हें नेस्त-नाबूत कर देगा, उनका अस्तित्व ही समाप्त कर देगा। समस्त सम्बन्ध और इष्ट संयोग अनन्तकाल के लिए वियोग में बदल जायेंगे। ऐसी स्थिति में उनका 'मरण' 'समाधिमरण' में परिणत कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता।

जब चारित्रमोहवश या अन्तर्मुखी पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण आत्मा की अमरता से सुपरिचित-सम्यग्दृष्टि-विज्ञान भी 'मरणभय' से पूर्णतया अप्रभावित नहीं रह पाते, उन्हें भी समय-समय पर इष्ट वियोग

के विकल्प सताये बिना नहीं रहते। ऐसी स्थिति में देह-जीव को एक मानने वाले मोही-बहिरात्माओं की तो बात ही क्या है? उनका प्रभावित होना व भयभीत होना तो स्वाभाविक ही है।

मरणकाल में चारित्रमोह के कारण यद्यपि ज्ञानी के तथा अज्ञानी के बाह्य व्यवहार में अधिकांश कोई खास अन्तर दिखाई नहीं देता, दोनों को एक जैसा रोते-बिलखते, दुःखी होते भी देखा जा सकता है; फिर भी आत्मज्ञानी-सम्यग्दृष्टि व अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि के मृत्युभय में जमीन-आसमान का अन्तर होता है; क्योंकि दोनों की श्रद्धा में भी जमीन-आसमान जैसा ही महान अन्तर आ जाता है।

स्व-पर के भेदज्ञान से शून्य अज्ञानी मरणकाल में अत्यन्त संक्लेशमय परिणामों से प्राण छोड़ने के कारण नरकादि गतियों में जाकर असीम दुःख भोगता है; वहीं ज्ञानी मरणकाल में वस्तुस्वरूप के चिन्तन से साम्यभावपूर्वक देह विसर्जित करके 'मरण' को 'समाधिमरण' में अथवा मृत्यु को महोत्सव में परिणत कर स्वर्गादि उत्तमगति को प्राप्त करता है।

यदि दूरदृष्टि से विचार किया जाय तो मृत्यु जैसा मित्र अन्य कोई नहीं है, जो जीवों को जीर्ण-शीर्ण-जर्जर तनरूप कारागृह से निकाल कर दिव्य देह रूप देवालय में पहुँचा देता है। कहा भी है -

“मृत्युराज उपकारी जिय कौ, तन सों तोहि छुड़ावै।

नातर या तन वन्दीगृह में, पड़ौ-पड़ौ विललावै॥”

कल्पना करें, यदि मृत्यु न होती तो विश्व व्यवस्था कैसी होती?

अरे! सम्यग्दृष्टि की दृष्टि में तो मृत्यु कोई गंभीर समस्या ही नहीं है; क्योंकि उसे मृत्यु में अपना सर्वस्व नष्ट होता प्रतीत नहीं होता। तत्त्वज्ञानी यह अच्छी तरह जानता है कि मृत्यु केवल पुराना झोंपड़ा छोड़कर नये भवन में निवास करने के समान स्थानान्तर मात्र हैं, पुराना मैला-कुचैला

वस्त्र उतारकर नया वस्त्र धारण करने के समान है; परन्तु जिसने आत्मा को नहीं जाना, स्वयं की अनन्त शक्तियों और वस्तु स्वातंत्र्य के सिद्धान्त को न मानकर, धर्म को न पहचान कर जीवन भर पापाचरण ही किया हो, आर्त-रौद्रध्यान ही किया हो, नरक-निगोद जाने की तैयारी ही की हो, उसका तो रहा-सहा पुण्य भी अब क्षीण हो रहा है, उस अज्ञानी और अभागे का दुःख कौन दूर कर सकता है? अब उसके मरण सुधरने का भी अवसर समाप्त हो गया है; क्योंकि उसकी तो अब गति के अनुसार मति को बिगड़ना ही है।

सम्यग्दृष्टि को देह में आत्मबुद्धि नहीं रहती। वह देह की नश्वरता, क्षणभंगुरता से भली-भाँति परिचित होता है। वह जानता है कि -

“नौ दरवाजे का पींजरा, तामें सुआ समाय।  
उड़वे कौ अचरज नहीं, अचरज रहवे माँहि॥”

अतः उसे मुख्यतया तो मृत्युभय नहीं होता। किन्तु कदाचित् यह भी संभव है कि सम्यग्दृष्टि भी मिथ्यादृष्टियों की तरह आँसू बहाये। पुराणों में भी ऐसे उदाहरण उपलब्ध हैं - रामचन्द्रजी क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे, तद्भव मोक्षगामी थे; फिर भी छह महीने तक लक्ष्मण के शव को कंधे पर ढोते फिरे।

कविवर बनारसीदास की मरणासन्न विपन्न दशा देखकर लोगों ने यहाँ तक कहना प्रारंभ कर दिया था कि - “पता नहीं इनके प्राण किस मोह-माया में अटके हैं? लोगों की इस टीका-टिप्पणी को सुनकर उन्होंने स्लेट पट्टी माँगी और उस पर लिखा -

ज्ञानकुतक्का<sup>१</sup> हाथ, मारि अरि मोहना।

प्रगट्यो रूप स्वरूप अनंत सु सोहना॥

जा परजै को अंत सत्यकरि जानना।

चले बनारसी दास फेरि नहिं आवना॥

अतः मृत्यु के समय ज्ञानी की आँखों में आँसू देखकर ही उसे अज्ञानी नहीं मान लेना चाहिए, क्योंकि वह अभी श्रद्धा के स्तर तक ही मृत्युभय से मुक्त हो पाया है; चारित्रमोह जनित कमजोरी तो अभी है ही न? फिर भी वह विचार करता है कि - “स्वतंत्रतया स्व-संचालित अनादिकालीन वस्तु व्यवस्था के अन्तर्गत ‘मरण’ एक सत्य तथ्य है, जिसे न तो नकारा ही जा सकता है, न टाला ही जा सकता है और न आगे-पीछे ही किया जा सकता है। सर्वज्ञ के ज्ञान और कर्म सिद्धान्त के अनुसार भी जीवों का जीवन-मरण व सुख-दुःख अपने-अपने स्वकाल में कर्मानुसार ही होता है - ऐसा मानने में अकाल मृत्यु में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि वह तो निमित्त सापेक्ष कथन है। वस्तुतः अकाल मृत्यु भी अपने स्वकाल में ही होती है; क्योंकि प्रत्येक कार्य के सम्पन्न होने में पाँच समवाय (कारण) होते ही हैं। उन पाँच कारणों में एक कार्यमात्र स्व-काल भी एक कारण है।

यद्यपि ज्ञानी व अज्ञानी अपने-अपने विकल्पानुसार इन मरण जैसी प्रतिकूल परिस्थितियों को टालने के अन्त तक भरसक प्रयास करते हैं; तथापि उनके वे प्रयास सफल नहीं होते, हो भी नहीं सकते। अंततः इस मृत्यु के पर्यायगत सत्य से तो सबको गुजरना ही पड़ता है। जो विज्ञान तत्त्वज्ञान के बल पर इस मृत्यु के सत्य को स्वीकार कर लेते हैं, उनका मरण समाधिमरण के रूप में बदल जाता है और जो अज्ञान उक्त पर्यायगत मरण सत्य को स्वीकार नहीं करते, उसे टालने के अन्तिम क्षण तक प्रयत्न करते रहते हैं, वे अत्यन्त संक्लेशमय परिणामों से मरकर नरकादि गतियों को प्राप्त करते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि - ज्ञानीजन स्वतंत्र-स्वचालित वस्तुस्वरूप के इस प्राकृतिक तथ्य से भलीभाँति परिचित होने से श्रद्धा के स्तर तक मृत्युभय से भयभीत नहीं होते और अपना अमूल्य समय व्यर्थ चिन्ताओं में व आकुलता में बर्बाद नहीं करते। किन्तु इस तथ्य से

सर्वथा अपरिचित अज्ञानीजन अनादिकाल से हो रहे जन्म-मरण एवं लोक-परलोक के अनन्त व असीम दुःखों से बे-खबर होकर जन्म-मरण के हेतुभूत छोटी-छोटी समस्याओं को तूल देकर अपने अमूल्य समय व शक्ति को बर्बाद करते हैं, यह भी एक विचारणीय बिन्दु है।

ऐसे लोग न केवल समय व शक्ति बर्बाद ही करते हैं, बल्कि इष्टवियोगज आर्त-ध्यान करके प्रचुर पाप भी बाँधते रहते हैं। यह उनकी सबसे बड़ी मानवीय कमजोरी है।

यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि - जब भी और जहाँ कहीं भी दो परिचित व्यक्ति बातचीत कर रहे होंगे वे निश्चित ही किसी तीसरे की बुराई भलाई या टीका-टिप्पणी ही कर रहे होंगे। उनकी चर्चा के विषय राग-द्वेषवर्द्धक विकथार्ये ही होंगे। सामाजिक व राजनैतिक विविध गतिविधियों की आलोचना-प्रत्यालोचना करके वे ऐसा गर्व का अनुभव करते हैं, मानों वे ही सम्पूर्ण राष्ट्र का संचालन कर रहे हों। भले ही उनकी मर्जी के अनुसार पत्ता भी न हिलता हो। नये जमाने को कोसना; बुरा-भला कहना व पुराने जमाने के गीत गाना तो मानो उनका जन्मसिद्ध अधिकार ही है। उन्हें क्या पता कि वे यह व्यर्थ की बकवास द्वारा विकथार्ये एवं आर्त-रौद्रध्यान करके कितना पाप बाँध रहे हैं, जोकि प्रत्यक्ष कुगति का कारण है।

भला जिनके पैर कब्र में लटके हों, जिनको यमराज का बुलावा आ गया हो, जिनके माथे के धवल केश मृत्यु का संदेश लेकर आ धमके हों, जिनके अंग-अंग ने जवाब दे दिया हो, जो केवल कुछ ही दिनों के मेहमान रह गये हों, परिजन-पुरजन भी जिनकी चिरविदाई की मानसिकता बना चुके हों। अपनी अन्तिम विदाई के इन महत्वपूर्ण क्षणों में भी क्या उन्हें अपने परलोक के विषय में विचार करने के बजाय इन व्यर्थ की बातों के लिए समय है?

हो सकता है उनके विचार सामायिक हों, सत्य हों, तथ्यपरक हों, लौकिक दृष्टि से जनोपयोगी हों, न्याय-नीति के अनुकूल हों; परन्तु इस नक्कार खाने में तूती की आवाज सुनता कौन है? क्या ऐसा करना पहाड़ से माथा मारना नहीं है? यह तो उनका ऐसा अरण्य रुदन है, जिसे पशु-पक्षी और जंगल के जानवरों के सिवाय और कोई नहीं सुनता।

वैसे तो जैनदर्शन में श्रद्धा रखनेवाले सभी का यह कर्तव्य है कि वे तत्त्वज्ञान के आलम्बन से जगत के ज्ञाता-दृष्टा बनकर रहना सीखें; क्योंकि सभी को शान्त व सुखी होना है, आनंद से रहना है, पर वृद्धजनों का तो एकमात्र यही कर्तव्य रह गया है कि जो भी हो रहा है, वे उसके केवल ज्ञातादृष्टा ही रहें, उसमें रुचि न लें, राग-द्वेष न करें; क्योंकि वृद्धजन यदि अब भी सच्चे सुख के उपायभूत समाधि का साधन नहीं अपनायेंगे, समाधि की साधना द्वारा अगले जन्म को सुखद स्थान का रिजर्वेशन नहीं करायेंगे, सल्लेखना से अपना जीवन और मरण सुधारने के बारे में नहीं सोचेंगे तो फिर उन्हें यह स्वर्ण अवसर कब मिलेगा? उनका तो अब अपने अगले जन्म-जन्मान्तरों के बारे में विचार करने का समय आ ही गया है। वे उसके बारे में क्यों नहीं सोचते?

इस वर्तमान जीवन को सुखी बनाने और जगत को सुधारने में उन्होंने अबतक क्या कुछ नहीं किया? बचपन, जवानी और बुढ़ापा - तीनों अवस्थायें इसी उधेड़बुन में ही तो बिताई हैं, पर क्या हुआ? जो कुछ किया, वे सब रेत के घरोंदे ही तो साबित हुए, जो बनाते-बनाते ही ढह गये और हम हाथ मलते रह गये; फिर भी इन सबसे वैराग्य क्यों नहीं हुआ?

आपको यह ज्ञात होना चाहिए कि यह मनुष्य पर्याय, उत्तम कुल व जिनवाणी का श्रवण उत्तरोत्तर दुर्लभ है। अनन्तानंत जीव अनादि से निगोद में हैं, उनमें से कुछ भली होनहार वाले बिरले जीव भाड़ में से

उचटे बिरले चनों की भाँति निगोद से एकेन्द्रिय आदि पर्यायों में आते हैं। वहाँ भी वे लम्बे काल तक पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं वनस्पतिकार्यों में जन्म-मरण करते रहते हैं। उनमें से भी कुछ बिरले जीव ही बड़ी दुर्लभता से दो-इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय, चार इन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय पर्यायों में आते हैं। यहाँ तक तो ठीक; पर इसके उपरांत मनुष्यपर्याय, उत्तमदेश, सुसंगति, श्रावककुल, सम्यग्दर्शन, संयम, रत्नत्रय की आराधना आदि तो उत्तरोत्तर और भी महादुर्लभ है जो कि हमें हमारे सातिशय पुण्योदय से सहज प्राप्त हो गये हैं। तो क्यों न हम अपने इस इन अमूल्य क्षणों का सदुपयोग कर लें। अपने इस अमूल्य समय को विकथाओं में व्यर्थ बरबाद करना कोई बुद्धिमानी नहीं है।

इस संदर्भ में भूधरकवि कृत निम्न पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं -

जोई दिन कटै, सोई आयु में अवश्य घटै;  
बूँद-बूँद बीते, जैसे अंजुक्ति कौ जल है।  
देह नित छीन होत, नैन तेजहीन होत;  
जीवन मलीन होत, छीन होत बल है।  
आवै जरा<sup>१</sup> नेरी<sup>२</sup>, तकै<sup>३</sup> अंतक<sup>४</sup> अहेरी<sup>५</sup>;  
आवै परभौ नजीक, जात नरभौ निफल है।  
मिलकै मिलापी जन, पूछत कुशल मेरी;  
ऐसी दशा मांहि, मित्र काहे की कुशल है।

इसप्रकार हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि तत्त्वज्ञान के बिना, आत्मज्ञान के बिना संसार में कोई सुखी नहीं है, अज्ञानी न तो समता, शान्ति व सुखपूर्वक जीवित ही रह सकता है और न समाधिमरण पूर्वक मर ही सकता है।

अतः हमें आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत

दो-तीन प्रमुख सिद्धान्तों को समझना अति आवश्यक है। एक तो यह कि - भाग्य से अधिक और समय से पहले किसी को कभी कुछ नहीं मिलता और दूसरा यह कि - न तो हम किसी के सुख-दुःख के दाता हैं, भले-बुरे के कर्ता हैं और न कोई हमें भी सुख-दुःख दे सकता है, हमारा भला-बुरा कर सकता है।

अमितगति आचार्य ने कहा भी है -

“परेणदत्तं यदि लभ्यतेस्फुटं, स्वयं कृतंकर्मनिरर्थकं तदा ॥”

राजा सेवक पर कितना ही प्रसन्न क्यों न हो जाये; पर वह सेवक को उसके भाग्य से अधिक धन नहीं दे सकता। दिन-रात पानी क्यों न बरसे, तो भी ढाक की टहनी में तीन से अधिक पत्ते नहीं निकलते हैं।<sup>१</sup>

‘वस्तु स्वातंत्र्य’ का सिद्धान्त जैनदर्शन का प्राण है। इसके अनुसार ‘जगत में पुद्गल का प्रत्येक परमाणु और प्रत्येक द्रव्य (पदार्थ) स्वतंत्ररूप से परिणमनशील है, पूर्ण स्वावलम्बी है। दो द्रव्यों से मिले-जुले हुए कार्य के समस्त कथन निमित्त सापेक्ष हैं। अतः उनसे वस्तु स्वातंत्र्य का सिद्धान्त बाधित नहीं होता।

जब तक यह जीव वस्तुस्वातंत्र्य के इस सिद्धान्त को नहीं समझेगा और अपने को पर का और पर को अपना कर्ता-धर्ता मानता रहेगा तबतक समता एवं समाधि का प्राप्त होना संभव नहीं है।

देखो, “लोक के प्रत्येक पदार्थ पूर्ण स्वतंत्र और स्वावलम्बी हैं। कोई भी द्रव्य किसी परद्रव्य के आधीन नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता-भोक्ता भी नहीं है।” ऐसी श्रद्धा एवं समझ से ही समता आती है, कषायें कम होती हैं, राग-द्वेष का अभाव होता है। बस, इसीप्रकार

१. तुष्टो हि राजा यदि सेवकेभ्यः, भाग्यात् परं नैव ददाति किञ्चित्।

अहिर्निशिं वर्षति वारिवाह तथापि पत्र त्रितयः पलाशः ॥

के श्रद्धान-ज्ञान व आचरण से आत्मा निष्कषाय होकर समाधिमय जीवन जी सकता है।

यहाँ कोई व्यक्ति समाधि की चर्चा को मृत्यु से जोड़कर उसे अशुभ सूचक मानकर झुँझलाकर कह सकता है कि - समाधि... समाधि... समाधि...? अभी से इस समाधि की चर्चा का क्या काम? यह तो मरण समय धारण करने की वस्तु है न? अभी तो इसकी चर्चा शादी के प्रसंग पर मौत की ध्वनि बजाने जैसी अपशकुन की बात है न?

**समाधान -** भाई! समाधि व समाधिमरण-दोनों बिल्कुल अलग-अलग विषय हैं। समाधि तो जीवन जीने की कला है उसे मरण से न जोड़ा जाय। मरते समय तो समाधिरूप वृक्ष के निष्कषायरूप फल खाये जाते हैं; एतदर्थ समाधि रूप वृक्ष का बीज तो अभी बोना होगा। तभी मरण समय निष्कषायरूप फल प्राप्त हो सकेगा। कहा भी है -

“दर्शन-ज्ञान-चारित्र को, प्रीति सहित अपनाय।

च्युत न होय स्वभाव से, वह समाधि फल पाय ॥

**समाधि तो साम्यभावों से निराकुलता से जीवन जीने की कला है,** उससे मरण का क्या सम्बन्ध? हाँ, जिसका जीवन समाधिमय होता है, उसका मरण भी समाधिमय हो जाता है; मरण की चर्चा तो मात्र सजग व सावधान करने के लिए, शेष जीवन को सफल बनाने के लिए, संवेग भावना जगाने के लिए बीच-बीच में आ जाती है। सो उसमें भी अपशकुन जैसा कुछ नहीं है।

भाई मौत की चर्चा अपशकुन नहीं है, बल्कि उसे अपशकुन मानना अपशकुन है। हमें इस खरगोश वाली वृत्ति को छोड़ना ही होगा, जो मौत को सामने खड़ा देख अपने कानों से आँखें ढंक लेता है और स्वयं को सुरक्षित समझ लेता है। जगत में जितने भी जीव जन्म लेते हैं, वे सभी मरते तो हैं ही; परन्तु सभी जीवों की मृत्यु को महोत्सव की संज्ञा नहीं दी जा सकती, उनके मरण को समाधिमरण नहीं कहा जा सकता।

हाँ, जिन्होंने तत्त्वज्ञान के बल पर अपना जीवन भेदविज्ञान के अभ्यास से, निज आत्मा की शरण लेकर समाधिपूर्वक जिया हो, निष्कषाय भावों से, शान्त परिणामों से जिया हो और मृत्यु के क्षणों में देहादि से ममता त्यागकर समतापूर्वक प्राणों का विसर्जन किया हो; उनके उस प्राणविसर्जन की क्रिया-प्रक्रिया को ही समाधिमरण या मृत्यु-महोत्सव कहते हैं। एतदर्थ सर्वप्रथम संसार से सन्यास लेना होता है।

### सन्यास और समाधि का स्वरूप

सन्यास अर्थात् संसार, शरीर व भोगों को असार, क्षणिक एवं नाशवान तथा दुःखरूप व दुःख का कारण मानकर उनसे विरक्त होना। सन्यास की सर्वत्र यही व्याख्या है। ऐसे संसार, शरीर व भोगों से विरक्त आत्मसाधना के पथ पर चलनेवाले भव्यात्माओं को सन्यासी कहा जाता है। साधु तो सन्यासी होते ही हैं, ज्ञानी गृहस्थ भी इस सन्यास की भावना को निरन्तर भाते हैं।

‘समाधि’ के लिए निजस्वरूप की समझ अनिवार्य है। आत्मा की पहचान, प्रतीति व श्रद्धा समाधि का प्रथम सोपान है। सच्चे-देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा उसमें निमित्त होती है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र रूप मोक्षमार्ग पर अग्रसर होकर सन्यासपूर्वक ही समाधि की साधना संभव है।

सम्यग्दर्शन अर्थात् वस्तुस्वरूप की यथार्थ श्रद्धा, जीव, अजीव, आस्रव बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष तथा पुण्य-पाप आदि सात तत्त्व अथवा नौ पदार्थों की सही समझ, इनमें हेयोपादेयता का विवेक एवं देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा अनिवार्य है। इसके बिना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति संभव नहीं है, जोकि मोक्षमार्ग का प्रथमसोपान है। सन्यास व समाधि भी इसके बिना संभव नहीं है।

तत्त्वों का मनन, मिथ्यात्व का वमन, कषायों का शमन, इन्द्रियों का दमन, आत्मा में रमण- यही सब समाधि के सोपान हैं।

शास्त्रीय शब्दों में कहें तो - “आचार्य जिनसेन कृत महापुराण के इक्कीसवें अध्याय में कहा है - ‘सम’ शब्द का अर्थ है एकरूप करना, मन को एकरूप या एकाग्र करना। इसप्रकार शुभोपयोग में मन को एकाग्र करना समाधि शब्द का अर्थ है।”

इसीप्रकार भगवती आराधना में भी समाधि के सम्बन्ध में यही लिखा है - “सम शब्द का अर्थ है एकरूप करना, मन को एकाग्र करना, शुभोपयोग में मन को एकाग्र करना।”

आचार्य कुन्दकुन्द कृत नियमसार गाथा १२२ में समाधि की चर्चा करते हुए कहा है कि - “वचनोच्चारण की क्रिया का परित्याग कर वीतरागभाव से जो आत्मा को ध्याता है, उसे समाधि कहते हैं।”

आचार्य योगीन्दुदेव कृत परमात्मप्रकाश की १९०वीं गाथा में परम समाधि की व्याख्या करते हुए ऐसा कहा है कि - “समस्त विकल्पों के नाश होने को परम समाधि कहते हैं।”

इसे ही ध्यान के प्रकरण में ऐसा कहा है कि - “ध्येय और ध्याता का एकीकरणरूप समरसीभाव ही समाधि है।”

स्याद्वाद मंजरी की टीका में योग और समाधि में अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है - “बाह्यजल्प और अन्तर्जल्प के त्यागरूप तो योग है तथा स्वरूप में चित्त का निरोध करना समाधि है।”

इसप्रकार जहाँ भी आगम में समाधि के स्वरूप की चर्चा आई है, उसे जीवन साधना आत्मा की आराधना और ध्यान आदि निर्विल्य भावों से ही जोड़ा है। अतः समाधि के लिए मरण की प्रतीक्षा करने के बजाय जीवन को निष्कषाय भाव से, समतापूर्वक, अतीन्द्रिय



आत्मानुभूति के साथ जीना जरूरी है। जो सर्वज्ञ स्वभावी आत्मा के आश्रय से ही संभव है।

तत्त्वज्ञान के अभ्यास के बल पर जिनके जीवन में ऐसी समाधि होगी, उनका मरण भी नियम से समाधिपूर्वक ही होगा। एतदर्थ हमें अपने जीवन में जैनदर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों का अध्ययन और उन्हीं की भावनाओं को बारम्बार नचाना, उनकी बारम्बार चिन्तन करना - अनुप्रेक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है। तभी हम राग-द्वेष से मुक्त होकर निष्कषाय अवस्था को प्राप्त कर सकेंगे। वस्तुतः आधि-व्याधि व उपाधि से रहित आत्मा के निर्मल परिणामों का नाम ही समाधि है।

पर ध्यान रहे, जिसने अपना जीवन रो-रोकर जिया हो, जिनको जीवनभर संक्लेश और अशान्ति रही हो, जिनका जीवन केवल आकुलता में ही हाय-हाय करते बीता हो, जिसने जीवन में कभी निराकुलता का अनुभव ही न किया हो, जिन्हें जीवनभर मुख्यरूप से आर्तध्यान व रौद्रध्यान ही रहा हो; उनका मरण कभी नहीं सुधर सकता; क्योंकि “जैसी मति वैसी गति।”

आगम के अनुसार जिसका आयुबंध जिसप्रकार के संक्लेश या विशुद्ध परिणामों में होता है, उसका मरण भी वैसे ही परिणामों में होता है। अतः यहाँ ऐसा कहा जायगा कि “जैसी गति वैसी मति”।

जब तक आयुबंध नहीं हुआ तबतक मति अनुसार गति बंधती है और अगले भव की आयुबंध होने पर ‘गति के अनुसार मति’ होती है। अतः यदि कुगति में जाना पसंद न हो तो मति को सुमति बनाना एवं व्यवस्थित करना आवश्यक है, कुमति कुगति का कारण बनती है और सुमति से सुगति की प्राप्ति होती है।

जिन्हें सन्यास व समाधि की भावना होती है, निश्चित ही उन्हें शुभ

आयु एवं शुभगति का ही बंध हुआ है या होनेवाला है। अन्यथा उनके ऐसे उत्तम विचार ही नहीं होते। कहा भी है -

**तादृशी जायते बुद्धि, व्यवसायोऽपि तादृशः।**

**सहायस्तादृशाः सन्ति, यादृशी भवितव्यता॥**

बुद्धि, व्यवसाय और सहायक कारण कलाप सभी समवाय एक होनहार का ही अनुशरण करते हैं। मोही जीवों को तो मृत्यु इष्टवियोग का कारण होने से दुःखद ही अनुभव होती है। भला मोही जीव इस अन्तहीन वियोग की निमित्तभूत दुःखद मृत्यु को महोत्सव का रूप कैसे दे सकते हैं? नहीं दे सकते। अतः हमें मरण सुधारने के बजाय जीवन सुधारने का प्रयत्न करना होगा।

मृत्यु को अमृत महोत्सव बनाने वाला मरणोन्मुख व्यक्ति तो जीवनभर के तत्त्वाभ्यास के बल पर मानसिकरूप से अपने आत्मा के अजर-अमर-अनादि-अनंत, नित्यविज्ञान घन व अतीन्द्रिय आनन्द स्वरूप के चिन्तन-मनन द्वारा देह से देहान्तर होने की क्रिया को सहज भाव से स्वीकार करके चिर विदाई के लिए तैयार होता है। साथ ही चिर विदाई देने वाले कुटुम्ब-परिवार के विवेकी व्यक्ति भी बाहर से वैसा ही वैराग्यप्रद वातावरण बनाते हैं तब कहीं वह मृत्यु अमृत महोत्सव बन पाती है।

कभी-कभी अज्ञानवश मोह में मूर्च्छित हो परिजन-पुरजन अपने प्रियजनों को मरणासन्न देखकर या मरण की संभावना से भी रोने लगते हैं, इससे मरणासन्न व्यक्ति के परिणामों में संक्लेश होने की संभावना बढ़ जाती है अतः ऐसे वातावरण से समाधि साधक को दूर ही रखना होगा।

**शंका :-** जब मृत्यु के समय कान में णमोकार मंत्र सुनने-सुनाने

मात्र से मृत्यु महोत्सव बन जाती है, तो फिर जीवनभर तत्त्वाभ्यास की क्या जरूरत है? जैसा कि जीवन्धर चरित्र में आई कथा से स्पष्ट है। उस कथा में तो साफ-साफ लिखा है – “महाराज सत्यन्धर के पुत्र जीवन्धर कुमार के द्वारा एक मरणासन्न कुत्ते के कान में णमोकार मंत्र सुनाया था, जिसके फलस्वरूप वह कुत्ता स्वर्ग में अनेक ऋद्धियों का धारक देव बना।”

**समाधान :-** यह पौराणिक कथा अपनी जगह पूर्ण सत्य है, पर इसके यथार्थ अभिप्राय व प्रयोजन को समझने के लिए प्रथमानुयोग की कथन पद्धति को समझना होगा। एतदर्थ पण्डित टोडरमल कृत मोक्षमार्ग प्रकाशक का निम्नकथन दृष्टव्य है।

“जिसप्रकार किसी ने नमस्कार मंत्र का स्मरण किया व साथ में अन्य धर्म साधन भी किया, उसके कष्ट दूर हुए, अतिशय प्रगट हुए; वहाँ उन्हीं का वैसा फल नहीं हुआ; परन्तु अन्य किसी कर्म के उदय से वैसे कार्य हुए; तथापि उनको मंत्र स्मरणादि का फल ही निरूपित करते हैं।.....”

यदि उपर्युक्त प्रश्न को हम पण्डित टोडरमल के उपर्युक्त कथन के संदर्भ में देखें तो उस कुत्ते को न केवल णमोकार मंत्र के शब्द कान में पड़ने से स्वर्ग की प्राप्ति हुई; बल्कि उस समय उसकी कषायें भी मंद रहीं होंगी, परिणाम विशुद्ध रहे होंगे, निश्चित ही वह जीव अपने पूर्वभवों में धार्मिक संस्कारों से युक्त रहा होगा। परन्तु प्रथमानुयोग की शैली के अनुसार णमोकार महामंत्र द्वारा पंचपरमेष्ठी के स्मरण कराने की प्रेरणा देने के प्रयोजन से उसकी स्वर्ग प्राप्ति को णमोकार मंत्र श्रवण का फल निरूपित किया गया है, जो सर्वथा उचित ही है और प्रयोजन की दृष्टि से पूर्ण सत्य है। जिनवाणी के सभी कथन शब्दार्थ की मुख्यता से नहीं,

वरन भावार्थ या और प्रयोजन अभिप्राय की मुख्यता से किए जाते हैं। अतः शब्द म्लेच्छ न होकर उनका अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए, अभिधेयार्थ ही ग्रहण करना चाहिए।

यद्यपि लोकदृष्टि से लोक विरुद्ध होने से तत्त्वज्ञानियों के भी आंशिक राग का सद्भाव होने से तथा चिर वियोग का प्रसंग होने से मृत्यु को अन्य उत्सवों की भाँति खुशियों के रूप में तो नहीं मनाया जा सकता, पर तत्त्वज्ञानियों द्वारा विवेक के स्तर पर राग से ऊपर उठकर मृत्यु को अमृत महोत्सव जैसा महशूस तो किया ही जा सकता है।

**सल्लेखना का स्वरूप :-**

यद्यपि सन्यास, समाधि व सल्लेखना एक पर्याय के रूप में ही प्रसिद्ध हैं, परन्तु सन्यास समाधि की पृष्ठभूमि है, पात्रता है। सन्यास संसार, शरीर व भोगों से विरक्तता है और समाधि समताभाव रूप कषाय रहित शान्त परिणामों का नाम है तथा सल्लेखना जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है, जो दो शब्दों से मिलकर बना है। सत् + लेखना = सल्लेखना। इसका अर्थ होता है – सम्यक् प्रकार से काय एवं कषायों को कृश करना।

**आगम में सल्लेखना के स्वरूप का उल्लेख**

“सल्लेखना का एक अर्थ यह भी है – सत् + लेखना अर्थात् अपने त्रिकाली स्वभाव को सम्यक् प्रकार से देखना”

– शान्तिपथ प्रदर्शक : जिनेन्द्र वर्णी, पृष्ठ-३५९

“काय एवं कषायों को भले प्रकार से लेखन करना अर्थात् कृश करना, कमजोर करना सल्लेखना है।”

– सर्वार्थसिद्धि ७/२२ आ. पूज्यपाद

“जरारोग (वृद्ध अवस्था) इन्द्रिय व शरीरवल की हानि तथा षट् आवश्यक धर्म क्रियाओं का नाश होने पर सल्लेखना होती है।

– राजवार्तिक ७/२२

इसीप्रकार सागारधर्मांमृत १/१० तथा समाधिमरणोत्साह दीपक १७/१८, पुरुषार्थसिद्धयुपाय श्लोक १७५ आदि में सल्लेखना का स्वरूप एवं आवश्यकता का विशद विवेचन है।

**प्रश्न :-** क्या सल्लेखना आत्माहत्या है?

**उत्तर :-** सल्लेखना और आत्महत्या में जमीन-आसमान जितना अन्तर है। इस सम्बन्ध में अत्यन्त युक्तिसंगत शंका-समाधान आचार्य पूज्यपाद प्रस्तुत करते हैं -

“शंका - चूँकि सल्लेखना में अपने अभिप्राय से आयु आदि का त्याग किया जाता है, इसलिए यह आत्मघात हुआ?

**समाधान -** यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि सल्लेखना में प्रमाद का अभाव है। ‘प्रमत्तयोग से प्राणों का वध करना हिंसा है’, परन्तु इसके प्रमाद नहीं है, क्योंकि इसके रागादिक नहीं पाये जाते। राग, द्वेष और मोह से युक्त होकर जो विष और शस्त्र आदि उपकरणों का प्रयोग करके उनसे अपना घात करता है, उसे आत्मघात का दोष प्राप्त होता है, परन्तु सल्लेखना को प्राप्त हुए जीव के रागादिक तो हैं नहीं, इसलिए इसे आत्मघात का दोष प्राप्त नहीं होता।” - सर्वार्थसिद्धि ७/२२

आत्मख्याति के रचयिता आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं -

**मरणोऽवश्यंभाविनि कषायसल्लेखनातनूकरणमात्रे ।**

**रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य नाऽत्मघातोऽस्ति ॥**

**अर्थात्** मरण अवश्यम्भावी है - ऐसा जानकर कषाय का त्याग करते हुए, राग-द्वेष के बिना ही प्राणत्याग करनेवाले मनुष्य को आत्मघात नहीं हो सकता।

उपर्युक्त श्लोक की टीका करते हुए टोडरमलजी लिखते हैं -

**यहाँ कोई कहेगा** कि संन्यास में तो आत्मघात का दोष आता है?

**समाधान -** सल्लेखना करनेवाला पुरुष जिस समय अपने मरण को अवश्यम्भावी जानता है, तब संन्यास अङ्गीकार करके कषाय को

घटाता है और रागादि को मिटाता है; इसलिए आत्मघात का दोष नहीं है।

आत्मघात का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आ. अमृतचन्द्र लिखते हैं -  
**यो हि कषायाऽविष्टः कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः ।**

**व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात्सत्यमात्मवधः ॥**

**अर्थात्** जो जीव क्रोधादि कषायसंयुक्त होकर श्वास-निरोध करके अर्थात् फाँसी लगाकर, जल में डूबकर, अग्नि में जलकर, विष-भक्षणकर या शस्त्रादि के द्वारा अपने प्राणों का वियोग करता है; उसको सदाकाल अपघात का दोष लगता है। - पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक-१७७-१७८

सल्लेखना की विधि बताते हुए आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं -

**स्नेहं वैरं संगं परिग्रहं चापहाय शुद्धमना ।**

**स्वजनं परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत् प्रियैर्वचनैः ॥**

**आलोच्यसर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम् ।**

**आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निःशेषम् ॥**

**अर्थात्** स्नेह, बैर, परिग्रह को छोड़कर शुद्ध होता हुआ प्रिय वचनों से अपने कुटुम्बियों और चाकरों से भी क्षमा करावे और आप भी सबको क्षमा करें। छलकपट रहित होकर, कृत-कारित-अनुमोदना सहित किये हुए समस्त पापों की आचोलना करके मरणपर्यन्त उपचरित महाव्रतों को धारण करे। क्रम-क्रम से आहार को छोड़कर दुग्ध-छाछ को बढ़ावे और पीछे दुग्धाभिषेक को छोड़कर गरम जल को बढ़ावे। तत्पश्चात् गरम जलपान का भी त्याग करके और शक्त्यानुसार उपवास करके पञ्च नमस्कार मंत्र को मन में धारण करता हुआ शरीर को छोड़े।

- रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक-१२४-१२५

“आचार्य वसुनन्दि लिखते हैं - जो श्रावक, वस्त्रमात्र परिग्रह को रखकर और अवशिष्ट समस्त परिग्रह को छोड़कर अपने ही घर में

अथवा जिनालय में रहकर गुरु के समीप मन-वचन-काय से अपनी भले प्रकार आलोचना करके दुग्ध जलपान आदि के सिवाय शेष तीन प्रकार के (खाद्य, स्वाद्य और लेह्य आहार का) त्याग करता है, उसे उपासकाध्ययन सूत्र में सल्लेखना नाम का चौथा शिक्षाव्रत कहा गया है।”

- वसुनन्दि श्रावकाचार, गाथा २७१-२७२

**प्रश्न** - समाधिमरण धारण करने की क्या प्रक्रिया है?

**उत्तर** - अपनी आयु निकट जानकर समाधि साधक समाधिमरण करने का निर्णय लेते हैं। एतदर्थ वे सर्वप्रथम अपने गुरु से पूछते हैं, पश्चात् मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक समस्त श्रावकों एवं मुनिसंघ से क्षमायाचना करते हैं और सबको क्षमा प्रदान करते हैं। तत्पश्चात् दो अथवा तीन मुनियों के साथ उस संघ का त्याग करके अन्य संघ में जाते हैं; क्योंकि यदि उसी संघ में रहेंगे तो पूर्व परिचय के कारण संघ के साधुओं से मोह होना सम्भव है।

इसप्रकार वे समाधिधारक योग्य निर्यापक की शरण में पहुँचकर समाधिमरण के लिए निवेदन करते हैं। वे निर्यापक भी उचित परीक्षापूर्वक आत्मा की शुद्धि के लिए साधक के दोषों की आलोचना (समीक्षा) करते हैं। एवं उन दोषों का निराकरण कराते हैं। साधक दोषों को बतलाने में किसी प्रकार की मायाचारी नहीं करते हुए आचार्यदेव द्वारा प्रदत्त प्रायश्चित्त को धारण करते हैं।

यह सब प्रक्रिया सम्पन्न होने पर आचार्यदेव, उन साधकों को समाधिमरण का स्वरूप बतलाते हुए समाधिमरण में उत्साहित करते हैं।

- मूलाचार प्रदीप, गाथा २६४७ से २६६६

**प्रश्न** - समाधिधारक किस प्रकार का चिन्तवन करके अपने परिणामों को दृढ़ रखते हैं?

**उत्तर** :- साधक चिन्तवन करते हैं कि - दर्शन और ज्ञानरूप उपयोग लक्षणवाला मैं एक हूँ, सदा नित्य हूँ, जन्म-जरा-मृत्यु से रहित

हूँ, परद्रव्यों से भिन्न हूँ और अनन्त गुणों का भण्डार हूँ। अन्य दूसरे जितने भी द्रव्य, देह, इन्द्रिय, लक्ष्मी और गृहादि अचेतन पदार्थ हैं तथा स्वजन-परिजन आदि चेतनप्राणी हैं, वे सब मेरे से सर्वथा भिन्न एवं परस्वरूप हैं।

मैं सिद्ध हूँ, सिद्धरूप हूँ, गुणों से सिद्ध के समान हूँ, महान हूँ, त्रिलोक के अग्रभाग पर निवास करनेवाला हूँ, अरूप हूँ, असंख्यातप्रदेशी हूँ। मैं शुद्ध हूँ, मैं निःकर्मा हूँ, मैं भवातीत हूँ, संसार को पार कर चुका हूँ, मैं मन-वचन-काय से दूर हूँ, मैं अतीन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियों से परे हूँ, मैं क्रिया रहित अर्थात् निष्क्रिय हूँ, मैं अमूर्त हूँ, मैं ज्ञानरूप हूँ, मैं अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख का धारक हूँ, मैं सर्वदर्शी हूँ।

मैं परमात्मा हूँ, प्रसिद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, स्वचैतन्यात्मक हूँ, मैं परमानन्द का भोक्ता हूँ, मैं सर्वप्रकार के कर्म-बन्धनों से रहित हूँ, अखण्डरूप हूँ, निर्ममत्वरूप हूँ, उदासीन हूँ, ऊर्जस्वी हूँ, तेजस्वी हूँ, मैं निर्विकल्प हूँ, मैं आत्मज्ञ हूँ, मैं केवलदर्शन और केवलज्ञानरूप दो नेत्रों का धारक हूँ, मैं स्वसंवेदनगम्य हूँ, मैं सम्यग्ज्ञानगम्य हूँ।

मैं सनातन हूँ, मैं सिद्धों के अष्ट गुणों का धारक हूँ, मैं निश्चयतः जगज्येष्ठ हूँ, मैं जिन हूँ, परमार्थ से मैं ही स्वयं ध्यान करने के योग्य हूँ।

इसप्रकार अपने उत्कृष्ट आत्मस्वरूप की भावना द्वारा अध्यात्मवेत्ता क्षपक स्वात्मध्यान में लीन रहता है।

- समाधिमरणोत्साहदीपक, गाथा-१५०-१५१

**प्रश्न** :- सल्लेखना की भावना जीवनपर्यन्त करना उपयोगी है अथवा मात्र अन्तिम समय में सल्लेखना कार्यकारी है?

**उत्तर** :- मैं मरण काल में अवश्य ही शास्त्रोक्त विधि से समाधिमरण करूँगा - इस प्रकार सदैव समाधि की भावना करके मरणकाल प्राप्त

होने के पहले ही सल्लेखनाव्रत ले लेना चाहिए।

- पुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा-१७६

**प्रश्न :-** सल्लेखना स्वयं की मर्जी से लेना चाहिए या शास्त्रों में विधान है, इसलिए उसे लेना आवश्यक है?

**उत्तर :-** इस सम्बन्ध में तत्त्वार्थसूत्रकार ने मनोवैज्ञानिक समाधान किया है। वे कहते हैं - **मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता**। अर्थात् व्रती साधक स्वेच्छा से मरण समय प्रीतिपूर्वक सल्लेखना स्वीकार करता है। यहाँ पर सूत्र में प्रयुक्त 'जोषिता' शब्द का केवल 'सेवन करना' अर्थ नहीं लिया गया है, बल्कि प्रीतिपूर्वक सेवन करना अर्थ किया है; क्योंकि प्रीति के बिना सल्लेखना नहीं करायी जाती, किन्तु प्रीति के रहने पर स्वयं ही सल्लेखना ग्रहण करता है।

शास्त्रों का विधान तो मात्र मार्गदर्शक है, जो व्यक्ति स्वयं अपने उत्साह से सल्लेखना धारण करेगा, पूरा लाभ से उसे ही मिलेगा।

- सर्वार्थसिद्धि, ७/२२

### सल्लेखना के अतिचार

**जीवितमरणाशसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ।**

**अर्थात्** जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदान - ये सल्लेखना के पाँच अतिचार हैं। - तत्त्वार्थसूत्र, ७/३७

१. सल्लेखना धारण करके जीने की इच्छा करना, **जीविताशंसा** अतिचार है।

२. सल्लेखना धारण करके रोगादि के उपद्रव होने पर आकुल-व्याकुल होकर शीघ्र मरने की इच्छा करना **मरणाशंसा** अतिचार है।

३. सल्लेखना धारण करने के पश्चात् जिनके साथ में रहकर अनेक प्रकार के खेलों में मस्त रहा उन मित्रों का स्मरण करना, **मित्रानुराग** अतिचार है।

४. सल्लेखना धारण करके पूर्वकाल में भोगे हुए भोग शयन-क्रीड़ा आदि का चिन्तन करना **सुखानुबन्ध** अतिचार है।

५. सल्लेखना के काल में इस प्रकार इच्छा करना कि आगामी काल में विषय-भोगों की प्राप्ति हो, वह **निदान** अतिचार है।

- अर्थप्रकाशिका, ७/३७, पृष्ठ २८६

### सल्लेखना का महत्व और फल

**प्रश्न -** सल्लेखना का महत्व और उसका फल क्या है?

**उत्तर -** सल्लेखना के धारक स्वर्गों में अनुत्तर विमान में भोग भोगकर वहाँ से आकर उत्तम मनुष्यभव में जन्म धारणकर सम्पूर्ण ऋद्धियों को प्राप्त करते हैं। बाद में जिनधर्म के अनुसार तप आदि का पालन करते हैं। फिर शुक्ललेश्या की प्राप्ति करके वे आराधक **शुक्लध्यान से संसार का नाश** करते हैं और कर्मरूपी कवच को छोड़कर सम्पूर्ण क्लेशों का नाश कर मुक्त होते हैं।

- भगवती आराधना, गाथा १९४२-१९४५

जिसने सल्लेखना धारण करके कषायों को कृश किया है, समताभाव धारण करके वीतरागी धर्मरूपी अमृत पान किया है - ऐसा धर्मात्मा साधक असंख्यातकाल तक स्वर्ग का महान ऋद्धिधारी देवपना भोगकर फिर मनुष्यों में उत्तम राजादि के वैभव पाकर, पश्चात् उन संसार-शरीर-भोगों से विरक्त होकर शुद्ध संयम अंगीकार करके निःश्रेयसरूप निर्वाण का आस्वादन करता है, अनुभव करता है।

तात्पर्य यह है कि स्व शुद्धात्मा की आराधना अर्थात् निर्मल रत्नत्रय परिणति का होना समाधि है और उस समाधिपूर्वक देह का परित्याग करना समाधिमरण है।

- जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-४, पृष्ठ ३३७

### सल्लेखना बाह्य स्वरूप :-

जब उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा अथवा असाध्य रोग आदि कोई ऐसी

अनिवार्य परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसके कारण धर्म की साधना संभव न रहे तो आत्मा के आश्रय से कषायों को कृश करते हुए अनशनादि तपों द्वारा काय को भी कृश करके धर्म रक्षार्थ मरण को वरण करने का नाम ही सल्लेखना है।<sup>१</sup> इसे ही मृत्यु महोत्सव भी कहते हैं।

**प्रश्न :-** मरण को महोत्सव कैसे कहा जा सकता है?

**उत्तर :-** जो मरण आत्मज्ञानपूर्वक हो; जो मरण, जन्म-मरण के अभाव के लिए हो; उसे महोत्सव कहने में कोई आपत्ति नहीं है। ज्ञानी जीवों के संसार में अनन्त भव तो होते ही नहीं हैं, थोड़े-बहुत भव ही शेष होते हैं, उनमें भी प्रत्येक मरण उन्हें मुक्ति के निकट ला रहा है; इस कारण उस मरण को महोत्सव कहना अनुचित नहीं है।

धर्म आराधक उपर्युक्त परिस्थिति में प्रीतिपूर्वक प्रसन्न चित्त से बाह्य में शरीरादि संयोगों को एवं अन्तरंग में राग-द्वेष आदि कषायभावों को क्रमशः कम करते हुए परिणामों में शुद्धि की वृद्धि के साथ शरीर का परित्याग करता है।

समाधि की व्याख्या करते हुए अनेक शास्त्रों में एक यही कहा गया है कि - 'समरसी भावः समाधिः' समरसी भावों का नाम समाधि है। समाधि में त्रिगुप्ति की प्रधानता होने से समस्त विकल्पों का नाश होना मुख्य है।

सल्लेखना में जहाँ काय व कषाय कृश करना मुख्य है, वहीं समाधि में निजशुद्धात्म स्वरूप का ध्यान प्रमुख है। स्थूलरूप से तीनों एक होते हुए भी साधन-साध्य की दृष्टि से सन्यास समाधि का साधन है और समाधि सल्लेखना का साधन है; क्योंकि सन्यास बिना समाधि संभव नहीं और समाधि बिना सल्लेखना-कषायों का कृश होना संभव नहीं होता।

१. उपसर्गो दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतिकारे।

धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः॥

- रत्नकरण्ड श्रावकाचार : आ. समन्तभद्र, श्लोक-१८२

सल्लेखना के आगम में कई प्रकार से भेद किए हैं; जिनका संक्षिप्त विवरण इसप्रकार है -

**नित्यमरण सल्लेखना :-** अंजुलि के जल बिन्दुओं के समान प्रतिसमय होनेवाले आयुर्कर्म के क्षय से जो जीवन निरन्तर मरण की ओर अग्रसर है उसे नित्यमरण कहते हैं। तथा साथ द्रव्य (बाह्य) सल्लेखनापूर्वक विकारी परिणाम विहीन शुद्ध परिणामन नित्यमरण सल्लेखना है।

**तद्भवमरण सल्लेखना :-** भुज्यमान (वर्तमान) आयु के अन्त में शरीर और आहार आदि के प्रति निर्ममत्व होकर साम्यभाव से शरीर त्यागना तद्भवमरण सल्लेखना है।

**काय सल्लेखना :-** काय से ममत्व कम करते हुए काय को कृश करना; उसे सहनशील बनाना काय सल्लेखना है। एतदर्थ कभी उपवास, कभी एकाशन, कभी नीरस आहार कभी अल्पाहार (उनोदर)। - इसतरह क्रम-क्रम से शक्तिप्रमाण आहार को कम करते हुए क्रमशः दूध, छाछ गर्मपानी से शेष जीवन का निर्वाह करते मरण के निकट आने पर पानी का भी त्याग करके देह का त्याग करना काय सल्लेखना है।

**भक्त प्रत्याख्यान सल्लेखना :-** इसमें भी उक्त प्रकार से ही भोजन का त्याग होता है। इसका उत्कृष्ट काल १२ वर्ष व जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त है।

**कषाय सल्लेखना :-** तत्त्वज्ञान के बल से कषायों कृश करना। आगम में मरण या समाधि मरण के उल्लेख अनेक अपेक्षाओं से हुए हैं - उनमें निम्नांकित पाँच प्रकार के मरण की भी एक अपेक्षा है।

**१. पण्डित-पण्डित मरण :-** केवली भगवान के देह विसर्जन को पण्डित-पण्डित मरण कहते हैं। इस मरण के बाद जीव पुनः जन्म धारण नहीं करता।

२. **पण्डित मरण** :- यह मरण छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिराजों के होता है। एकबार ऐसा मरण होने पर दो-तीन भव में ही मुक्ति हो जाती है।

३. **बाल पण्डित मरण** - यह मरण देशसंयमी के होता है। इस मरण के होने पर सोलहवें स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है।

४. **बाल मरण** :- यह मरण चतुर्थगुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि के होता है। इस मरण से प्रायः स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

५. **बाल-बाल मरण** :- यह मरण मिथ्यादृष्टि के होता है। यह मरण करने वाले अपनी-अपनी लेश्या व कषाय के अनुसार चारों गतियों के पात्र होते हैं। पाँचवें बाल-बाल मरण को छोड़कर उक्त चारों ही मरण समाधिपूर्वक ही होते हैं, परन्तु स्वरूप की स्थिरता और परिणामों की विशुद्धता अपनी-अपनी योग्यतानुसार होती है।

समाधिधारक यह विचार करता है कि - “जो दुःख मुझे अभी है, इससे भी अनंतगुणे दुःख मैंने इस जगत में अनन्तबार भोगे हैं, फिर भी आत्मा का कुछ भी नहीं बिगड़ा। अतः इस थोड़े से दुःख से क्या घबराना? यदि पीड़ा चिन्तन आर्तध्यान होगा तो फिर नये दुःख के बीज पड़ जायेंगे। अतः इस पीड़ा पर से अपना उपयोग हटाते हुए संकल्प करें कि - “मैं अपने उपयोग को पीड़ा से हटाता हूँ।” इस संकल्प से पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा तो होगी ही, नवीन कर्मों का बंध भी नहीं होगा। जो असाता कर्म के उदय में दुःख आया है, उसे सहना तो पड़ेगा ही, यदि समतापूर्वक सह लेंगे और तत्त्वज्ञान के बल पर संक्लेश परिणामों से बचे रहेंगे तथा आत्मा की आराधना में लगे रहेंगे तो दुःख के कारणभूत सभी संचित कर्म क्षीण हो जायेंगे।

हम चाहे निर्भय रहें या भयभीत, रोगों का उपचार करें या न करें, जो प्रबलकर्म उदय में आयेंगे, वे तो फल देंगे ही। उपचार भी कर्म के

मंदोदय में ही अपना असर दिखा सकेगा। जबतक असाता का तीव्र उदय रहता है, तबतक औषधि निमित्त रूप से भी कार्यकारी नहीं होती। अन्यथा बड़े-बड़े वैद्य डाक्टर, राजा-महाराजा तो कभी बीमार ही नहीं पड़ते; क्योंकि उनके पास साधनों की क्या कमी? अतः स्पष्ट है कि होनहार के आगे किसी का वश नहीं चलता। - ऐसा मानकर आये दुःख को समताभाव से सहते हुए सबके ज्ञाता-दृष्टा बनने का प्रयास करना ही योग्य है। ऐसा करने से ही मैं अपने मरण को समाधिमरण में परिणत कर सकता हूँ।

आचार्य कहते हैं कि - यदि असह्य वेदना हो रही हो और उपयोग आत्मध्यान में न लगता हो, मरण समय हो तो ऐसा विचार करें कि - “कोई कितने ही प्रयत्न क्यों न करे, पर होनहार को कोई टाल नहीं सकता। जो सुख-दुःख, जीवन-मरण जिस समय होना है, वह तो होकर ही रहता है।

कार्तिकानुप्रेक्षा में स्पष्ट लिखा है कि - “साधारण मनुष्य तो क्या, असीम शक्ति सम्पन्न इन्द्र व अनन्त बल के धनी जिनेन्द्र भी स्व-समय में होनेवाली सुख-दुःख व जीवन-मरण पर्यायों को नहीं पलट सकते।”

ऐसे विचारों से सहज समता आती है और राग-द्वेष कम होकर मरण समाधिमरण में परिणत हो जाता है।

**प्रश्न** :- गुरुदेव श्री कानजीस्वामी से किसी ने पूछा - “पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा तो अशरण भावना में शुद्धात्मा और पंचपरमेष्ठी - दोनों को शरणभूत करते हैं। आप पण्डित जयचन्दजी को तो समयसार के टीकाकार के रूप में बहुत श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हो, फिर भी आप अकेले आत्मा को ही शरण क्यों कहते हैं? कथञ्चित् भगवान का स्मरण भी शरण है - ऐसा कहो न?

**उत्तर** :- भाई, निश्चय से तो ज्ञानानन्दस्वरूप शुद्ध आत्मा ही

शरणभूत है, अन्य अरहन्त आदि को तो निमित्त की अपेक्षा व्यवहार से शरण कहा है। अन्दर में जो भगवान ज्ञायक अतीन्द्रिय शान्ति का पिण्ड शुद्धात्मा है, उसमें एकाग्रता करना ही जीव को निश्चय से शरण है; जो अरहंतादि पंच-परमेष्ठी की भक्ति इत्यादि शुभभाव होते हैं, उनसे पुण्य बंध होता है, अतः उन्हें व्यवहार से शरण कहा है। और हाँ, वे पंचपरमेष्ठी भी जीव को यही उपदेश देते हैं कि तुम अपने ज्ञानानन्द स्वभावी शुद्धात्मा की शरण में जाओ। वही एक मात्र शरणभूत है। इसप्रकार वे पंचपरमेष्ठी स्वयं भी शुद्धात्मा की शरण में क्षण-क्षण में जाते हैं और भव्य जीवों को भी शुद्धात्मा की शरण में जाने का उपदेश देते हैं। इसी कारण निमित्त बनने की अपेक्षा से वे व्यवहार से शरण कहे जाते हैं।

पण्डित जयचन्दजी भी यहीं कहते हैं।

प्रवचनसार में आता है कि 'हे भव्य जीव ! तुम स्याद्वाद विद्या के बल से विशुद्ध ज्ञान की कला द्वारा इस एक सम्पूर्ण शाश्वत स्वतत्त्व को प्राप्त करके आज ही परमानन्द परिणामरूप परिणामो... उस चित्तस्वरूप आत्मा को आज ही अनुभव करो।'

हे भाई ! राग से भिन्न निज भगवान आत्मा की अनुभूति का उद्यम अभी से कर ! मरण आएगा, तब वह उद्यम करूँगा - ऐसा वायदा मत कर। यदि मूर्च्छित अवस्था में ही मरण हो गया तो सब वायदे धरे रह जायेंगे। अतः वायदा में कोई फायदा नहीं है।

समयसार की पाँचवी गाथा में कहा है कि 'जदि दाएज्ज पमाणं' अर्थात् उस एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा को दर्शाऊँ तो प्रमाण करना; सुनकर मात्र हाँ-हाँ नहीं करना; उसे स्वानुभव प्रत्यक्ष करके, उसकी अनुभूति करके प्रमाण करना।

अहा! दिगम्बर सन्तों की सचोट भाषा और निष्कषाय करुणा तो देखो ! कहते हैं - 'भगवान आत्मा आनन्द का सागर है, उसका

अनुभव प्राप्त करने के लिए अभी से प्रयत्न करो।'

घर जले, तब यदि कुआँ खोदे तो पानी कब निकले और कब आग को बुझावे, पानी निकले तब तक तो घर जल कर राख हो जाएगा, घर को आग से बचाना हो तो पहले से ही पानी की व्यवस्था रखना चाहिए। इसीप्रकार मौत आए तब नहीं, अपितु पहले से ही अर्थात् अभी से ही आत्मा की आराधना शुरू करने और आत्मा की अनुभूति प्राप्त करने का प्रयत्न कर ! जब से सुना हो, तभी से प्रयत्न प्रारम्भ कर दे।

अहा! दिगम्बर सन्तों की वाणी पञ्चमकाल के अत्यन्त अप्रतिबुद्ध श्रोताओं से कहती है कि **भाई! आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए अभी से शुरूआत कर दे।** समयसार की ३८वीं गाथा की टीका में कहा है कि 'विरक्त गुरु से निरन्तर समझाये जाने पर दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप परिणत होकर जो सम्यक् प्रकार से एक आत्माराम हुआ है, वह श्रोता/शिष्य कहता है कि - 'कोई भी परद्रव्य, परमाणुमात्र भी मुझरूप भासित नहीं होता, जो मुझे भावरूप तथा ज्ञेयरूप होकर फिर से मोह उत्पन्न करे, क्योंकि निजरस से ही मोह को मूल से उखाड़कर, फिर से अंकुरित न हो - ऐसा नाश करके, महान ज्ञानप्रकाश मुझे प्रगट हुआ है।'

अहा ! पञ्चम काल का अप्रतिबुद्ध शिष्य-प्रतिबोध प्राप्त करके कहता है कि - 'हमको प्रगट हुआ ज्ञानप्रकाश अप्रतिहत है, भले ही क्षायोपशमिक भावरूप है तो भी अप्रतिहत होने से 'जोड़नी क्षायिक' है; इसलिए हमें पुनः मिथ्यात्व का अंकुर उत्पन्न होगा ही नहीं।'

अरे! मौत आने पर यह देह, कुटुम्ब का मेला, धन, मकान, गाड़ी, वाड़ी इत्यादि सब छूट जाएगा। कोई दुःख की बेला में सहायक नहीं होगा। देह की स्थिति पूरी होने के नगाड़े बज रहे



हैं। मौत अचानक आ जाएगी, वह नोटिस देकर नहीं आएगी।

देह का संयोग अनित्य है और भगवान आत्मा ध्रुव नित्य तत्त्व है। आत्मा का कभी नाश नहीं होता, देह और आत्मा स्वभाव से तो भिन्न ही हैं; मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण पर्याय अपेक्षा से एकक्षेत्रावगाहरूप साथ रह रहे हैं। वस्तुतः तो वे दोनों अपने-अपने स्वक्षेत्र में ही रहते हैं। आकाश के एक क्षेत्र में जो दोनों साथ रह रहे हों, उनके पृथक् होने को मौत कहते हैं। मृत्यु जरूर आनेवाली है, ऐसा बारम्बार याद करके अन्तरंग में स्वसन्मुखता का पुरुषार्थ कर ! जिससे 'अब हम अमर भये, न मरेंगे' – ऐसी सावधानी में तू समाधिपूर्वक मरण कर सके।

निज त्रिकाल शुद्ध चैतन्य भगवान तो सदा अमर ही है। देह के सम्बन्ध की स्थिति पूर्ण होने की अपेक्षा मरण कहते हो तो भले कहो, परन्तु अनादिनिधन सत् ज्ञायकप्रभु की स्थिति कभी पूर्ण नहीं होती, वह तो सदा अमर ही है।

'सिर पर मौत के नगाड़े बज रहे हैं, सिर पर मौत मँडरा रही है।' ऐसा बारम्बार स्मरण में लाकर तू भी सदा उस अमर निज शुद्धात्मतत्त्व के प्रति उग्र आलम्बन का जोरदार पुरुषार्थ कर !

मरण के समय कदाचित् निर्विकल्प शुद्धोपयोग न भी हो; भले ही विकल्प हों, परन्तु स्वभाव के आश्रय से परिणति में प्रगट हुई जो सतत वर्तती शुद्धि की धारा है, वह एकाग्रता और समाधि ही है।

ज्ञानी को दृष्टि-अपेक्षा और जितनी स्वरूप स्थिरता है, उसकी अपेक्षा निर्विकल्पधारा सतत वर्त रही है, परन्तु देह छूटने के समय उपयोग निर्विकल्प ही हो, उपयोग में विकल्प का अंश भी न रहे – ऐसा नहीं होता। कभी-कभी विकल्प हो सकते हैं, साधक-मूर्च्छित भी

हो सकता है; परन्तु अन्तर में स्वभाव के आश्रय से परिणति में प्रगट हुई एकाग्रता है; इसलिए मरणकाल में उसका समाधिपूर्वक देह छूटेगा। ज्ञानियों को ख्याल में है कि यद्यपि देह छूटने के प्रसंग में विकल्प आ सकते हैं, देहाश्रित (ब्रेन हेमरेज आदि) मूर्च्छित होने जैसी बीमारी भी संभव है तथापि उन्हें अन्तरंग में समाधि है।

मोक्षमार्गप्रकाशक में आता है कि 'मुनिजनों को स्त्री आदि का परीषह होने पर वे उसे जानते ही नहीं, मात्र अपने स्वरूप का ही ज्ञान करते रहते हैं – ऐसा मानना मिथ्या है। वे उसे जानते तो हैं, परन्तु रागादिक नहीं करते।'

इसीप्रकार ज्ञानियों को मरणकाल में भूमिकानुसार विकल्प होने पर भी अन्तरंग में वीतरागभाव होने से समाधिपूर्वक देह छूटती है।

श्रीमद् राजचन्द्र ने भी अपने अन्त समय में अपने छोटे भाई से कहा था – 'मनसुख! माँ को चिन्तातुर मत होने देना। अब, मैं स्वरूप में लीन होता हूँ।' इसप्रकार उन्हें स्वरूप की दृष्टि और अनुभव तो था, परन्तु माँ को चिन्ता न हो – ऐसा विकल्प आ गया, सो भाई से कह दिया। फिर आँख बंद करने पर थोड़ी देर में देह छूट गया।

प्रश्न :- कोई ज्ञानी मरण के काल में बेसुध हों अथवा बकवास कर रहे हों तो भी क्या उन्हें समाधि होती है?

उत्तर :- कदाचित् ज्ञानियों को इन्द्रिय-निमित्तक ज्ञान में किञ्चित् फेरफार हो जाए, जरा बेसुधपना हो जाए, तथापि उनके अन्दर ज्ञानधारा सतत वर्तती होने से समाधि है।

समाधिशतक में ऐसा आता है कि भेदज्ञानी अन्तरात्मा निद्रा अवस्था में होने पर भी कर्म-बन्धन से मुक्त होते हैं।

समाधिमरण का स्वरूप : पण्डित गुमानीराम

पण्डित गुमानीराम जो लिखते हैं उसका संक्षिप्त सार इसप्रकार है -  
 “समाधि नाम निःकषाय का है, शान्त परिणामों का है। कषाय रहित शान्त परिणामों से मरण होना समाधिमरण है। सम्यग्ज्ञानी पुरुष का यह सहज स्वभाव है कि वह समाधिमरण की ही इच्छा करता है। मरण समय आने पर वह सावधान होता है।

सम्यग्दृष्टि के हृदय में आत्मा का स्वरूप प्रगट रूप से प्रतिभासित होता है। वह अपने को चैतन्य धातु का पिण्ड, अनन्तगुणों से युक्त जानता है। वह परद्रव्य के प्रति रंचमात्र भी रागी नहीं होता। वह अपने निज स्वरूप को रागादि रहित, ज्ञाता-दृष्टा, परद्रव्य से भिन्न, अविनाशी जानता है और परद्रव्य को क्षणभंगुर, अ-शास्वत, अपने स्वभाव से भिन्न जानता है। इसकारण सम्यग्ज्ञानी को मरणभय नहीं होता।

सम्यग्ज्ञानी मरण के समय इसप्रकार भावना करता है कि मुझे ऐसे चिन्ह दिखाई देने लगे हैं कि अब इस शरीर की स्थिति थोड़ी है, इसलिए मुझे सावधान होना उचित है, देर करना उचित नहीं है।

ज्ञानी विचार करता है कि - मैं ज्ञाता-दृष्टा रहकर देह के होनेवाले क्षण-क्षण के परिवर्तन को देख रहा हूँ, जान रहा हूँ। मैं तो इसका पड़ोसी हूँ, स्वामी नहीं। मैं इसका कर्त्ता भी नहीं हूँ। मैं तो इसमें होनेवाले परिवर्तन को तमासगीर की तरह देख रहा हूँ। शरीर के अनंत परमाणुओं का परिणामन इतने दिन एक सा रहा - यह आश्चर्य है। अब वही परमाणु अन्य रूप परिणामन करने लगे - इसमें क्या आश्चर्य? मेरा स्वरूप तो चेतनास्वभावी है, शास्वत है। मेरा मरण नहीं होता।

तीन लोक में जितने पदार्थ हैं, वे सब अपने-अपने स्वभाव रूप परिणामन करते हैं कोई किसी का कर्त्ता-भोक्ता नहीं है। स्वयं उत्पन्न होता है, स्वयं ही विघट जाता है, स्वयं ही मिलता है, स्वयं ही बिछुड़ जाता है। ऐसी स्थिति में मैं इसका कर्त्ता-भोक्ता कैसे हो सकता हूँ?

मैं तो इस ज्ञायक स्वभाव का ही कर्त्ता-भोक्ता हूँ और इसी का वेदन व अनुभव करता हूँ। इस शरीर के जाने से मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं और इसके रहने से कुछ भी सुधार या लाभ नहीं है। - ऐसा जानकर मैं शरीर एवं शरीर से संबंधित सभी जड़-चेतन संबंध छोड़ता हूँ।

देखो! मोह का स्वभाव? ये सब संयोगी सामग्री प्रत्यक्ष ही पर वस्तु हैं, इससे कुछ भी लाभ-हानि नहीं है तो भी यह संसारी अज्ञानी जीव इन्हें अपना समझकर इन्हें इष्ट मानकर रखना चाहता है अथवा अनिष्ट मानकर इनसे द्वेष करके हटाना चाहता है।

ज्ञानी जानते हैं कि - “मैं तो अनादिकाल से अविनाशी चैतन्य देव हूँ।” उस पर काल (मृत्यु) का जोर नहीं चलता। अतः मुझे मृत्यु का भय नहीं है। जो मरता है वह तो पहले से मरा हुआ ही है और जो जीवित है वह भी पहले से ही जीवित है। मैं अपने निज चैतन्य स्वभाव में स्थित हूँ, अकम्ब हूँ, ज्ञानामृत से परिपूर्ण हूँ।

मेरे सर्वांग में चैतन्य ही चैतन्य इसप्रकार व्याप्त है जैसे नमक की डली में खारापना व्याप्त है। चैतन्य स्वरूप आकाश के समान निर्मल है, अविनाशी है, जैसे आकाश को तलवार से काटा नहीं जा सकता, अग्नि-पानी से जलाया-गलाया नहीं जा सकता, उसी प्रकार मेरा चैतन्य आत्मा अग्नि-पानी से जलता-गलता नहीं है। आकाश की तरह अमूर्तिक, निर्विकार और अखण्ड पिण्ड है। हाँ, आकाश और मुझमें यह अन्तर है कि वह जड़ है और मैं चैतन्य पदार्थ हूँ।

ज्ञानी मरणासन्न स्थिति में विचार करता है कि - ‘मुझे दोनों ही परिस्थितियों में आनन्द है। शरीर रहेगा तो फिर शुद्धोपयोग की आराधना करूँगा और शरीर नहीं रहेगा तो परलोक में जाकर शुद्धोपयोग की आराधना करूँगा।

कोई रागी जीव मरण सन्मुख सन्यासी सम्यग्दृष्टि को समझाता है

कि - “यद्यपि शरीर तुम्हारा नहीं है; किन्तु - इस शरीर के निमित्त से मनुष्य पर्याय में शुद्धोपयोग का साधन भली प्रकार होता है, यह जानकर इसे रखने का उद्यम करना उचित है न?”

समकिति उत्तर देता है - “हे भाई! यह जो तुमने कहा? वह तो हम भी जानते हैं; किन्तु यदि संयमादि रहते हुए शरीर रहे तो भले रहे। हमें शरीर से बैर थोड़े ही है, परन्तु यदि शरीर की रहने की स्थिति न हो तब तो उससे ममत्व छोड़कर अपने संयमादि गुण निर्विघ्न रूप से रखना ही उचित है; क्योंकि हमें दोनों ही तरह से आनंद है। जब तक शरीर रहेगा तब तक यहाँ शुद्धोपयोग की आराधना करेंगे और यदि शरीर नहीं रहेगा तो परलोक में कोई जाकर वहाँ शुद्धोपयोग की आराधना करेंगे।”

इस प्रकार ज्ञानी को कहीं/कभी/कोई आकुलता नहीं होती।

ज्ञानी विचार करता है कि - “मेरी स्थिति तो सोलहवें स्वर्ग के उन कल्पवासी देवों की तरह है जो कौतूहलवश तमाशा हेतु मध्यलोक में आते हैं। किसी गरीब आदमी के शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं और उसकी सी क्रियायें करने लगते हैं। जैसे कि - वह कभी तो लकड़ी का गट्टर शिर पर रखकर बाजार में बेचने जाता है और कभी भिखारी के वेष धरकर भीख माँगने लगता है आदि। इसप्रकार जब वह यहाँ आकर नाना स्वांग बनाकर कौतूहल करता है। तब भी वह कल्पवासी देव अपने सोलहवें स्वर्ग की विभूति को एक क्षण को भी नहीं भूलता और यहाँ की स्वांग की अवस्थाओं से अहंकार-ममकार नहीं करता। इसीप्रकार ज्ञानी अपने सिद्ध समान शुद्ध आत्मा को कभी नहीं भूलता। भले ही वह संसार अवस्था में नाना पर्यायें धारण करता है और उन पर्यायों में नाना वेश धारण करता है, नाना चेष्टायें करता है, फिर भी वह अपनी मोक्ष लक्ष्मी को नहीं भूलता।

सम्यग्दृष्टि पुरुष अपनी आयु थोड़ी जानकर दान-पुण्य जो कुछ

करना होता है, स्वयं करता है। जिन पारिवारिक एवं धार्मिक व्यक्तियों से परामर्श करना होता है, उनसे परामर्श करके निःशल्य हो जाता है।

इसप्रकार परम शान्त परिणामों से समाधिमरण में तत्पर रहकर अपना मानव जीवन सार्थक कर लेता है।

### समाधि सार : पण्डित दीपचन्द्रजी

स्व-समय समाधि का स्पष्टीकरण करते हुए समाधिसार में पण्डित दीपचन्द्रजी ने जो लिखा है उसका सार यह है कि - स्व-समय समाधि आत्मा के ध्यान से होती है और आत्म ध्यान एकाग्रचिन्ता निरोध से होता है तथा एकाग्र चिन्तानिरोध राग-द्वेष के मिटने से होता है। वह राग-द्वेष इष्ट-अनिष्ट की मिथ्या कल्पनायें मिटने पर मिटता है। इसलिए जो जीव स्व-समय समाधि के इच्छुक हैं, उन्हें सर्व प्रथम इष्ट-अनिष्ट की मिथ्या कल्पनायें करना छोड़ना होगा। तभी राग-द्वेष कम होंगे। इष्टानिष्टपना छोड़ना कठिन नहीं है; क्योंकि पर पदार्थ इष्टानिष्ट है ही नहीं।

पण्डित टोडरमलजी ने मो.मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ .... में स्पष्ट लिखा है कि - “अज्ञानी रागवश पर पदार्थों को भला जानकर इष्ट कल्पना करता और द्वेषवश बुरा मानकर पर पदार्थ में अनिष्ट कल्पना करता है; जबकि कोई भी पदार्थ भला-बुरा है ही नहीं।”

अतः ऐसे भी राग-द्वेष त्याग कर अन्य चिन्ता का निरोध करके आत्मा के ध्यान में उपयोग को केन्द्रित करने से सम्यक् समाधि होती है।

जीव ज्यों-ज्यों निज तत्त्व को जानता है, आत्मा के स्वरूप को जानता है, त्यों-त्यों आत्मा की विशुद्धि वृद्धिगत होकर केवलज्ञान के अवलम्बन से निज की महिमा जानकर आनन्द की अनुभूति करता है। बस यही समाधि का स्वरूप है।

### समाधिमरण साधकों के कुछ उदाहरण :-

जिन्होंने अपने आत्मा को आत्मस्वरूप में ही स्थिर किया है -

ऐसे साधकों को शेर (सियार) फाड़ते रहे, तथापि वे श्रेष्ठ रत्नत्रय की साधना करते रहे, शिथिल नहीं हुए – ऐसे ही कुछ धीरधारक सल्लेखना में सफल होनेवाले उपसर्गजयी मुनिराजों के प्रातः स्मरणीय उल्लेखनीय नाम इसप्रकार है –

- नवदीक्षित सुकुमाल मुनि को स्यालनी और उसके बच्चों द्वारा लगातार तीन रात तक भक्षण किये जाने पर जिनके शरीर में घोर वेदना उत्पन्न हुई, फिर भी वे ध्यान द्वारा आराधना को प्राप्त हुए।

- उपसर्गजयी सुकौशल मुनि को उनकी माता ने शेरनी बनकर उनका भक्षण किया, तथापि वे उत्तम अर्थ को प्राप्त हुए।

- सिर पर अग्नि से तप्तयमान धधकती सिगड़ी जलने पर भी देहोत्सर्ग करके गजकुमार मुनि उत्तम अर्थ को प्राप्त हुए।

- एणिक पुत्र नामक साधु ने गंगा नदी के प्रवाह में बहते हुए भी निर्मोहरूप से चार आराधना प्राप्त करके समाधिमरण किया, परन्तु कायरता नहीं की; इसलिए हे कल्याण के अर्थी साधु! तुम्हें भी धैर्य धारण करके आत्महित में सावधान रहना उचित है।

- भद्रबाहु मुनिराज घोर क्षुधा-वेदना से पीड़ित होने पर भी संक्लेशरहित बुद्धि का अवलम्बन करते हुए, अल्पाहार नामक तप को धारण करके उत्तम स्थान को प्राप्त हुए, परन्तु भोजन की इच्छा नहीं की।

- कौशाम्बी नगरी में ललितघटादि बत्तीस प्रसिद्ध महामुनि, नदी के प्रवाह में डूबने पर भी निर्मोहरूप से प्रायोपगमन संन्यास को धारण करके आराधना को प्राप्त हुए।

- चम्पानगरी के बाहर गंगा के किनारे धर्मघोष नामक महामुनि एक मास का उपवास धारण करके असह्य तृषा की वेदना होने पर भी संक्लेशरहित उत्तम अर्थ को प्राप्त हुए, आराधनासहित समाधिमरण किया, तृषा की वेदना से पानी की इच्छा नहीं की, संयम से नहीं डिगे;

बल्कि धैर्य धारण करके आत्मकल्याण किया।

- श्रीदत्त मुनि को पूर्वजन्म के वैरी देव ने विक्रिया द्वारा घोर शीतवेदना की, तथापि वे संक्लेश किये बिना उत्तमस्थान को प्राप्त हुए।

- वृषभसेन नामक मुनि, उष्ण वायु, उष्ण शिलातल तथा सूर्य का तीव्र आतप संक्लेशरहित होकर सहन करके उत्तम अर्थ को प्राप्त हुए।

- रोहेडग नगरी में अग्निपुत्र नामक मुनि का क्रॉच नामक शत्रु ने शक्ति-आयुध द्वारा घात कर दिया, तथापि उस वेदना को समतापूर्वक सहन करके, वे उत्तम अर्थ को प्राप्त हुए।

- चण्डवेग नामक शत्रु ने काकंदी नगरी में अभयघोष मुनि के सर्व अंग छेद डाले; उस घोर वेदना को पाकर भी वे उत्तम अर्थस्वरूप अभेद रत्नत्रय को प्राप्त हुए।

- विद्युत्चर मुनि, डाँस-मच्छर द्वारा भक्षण की अतिघोर वेदना को संक्लेशरहित होकर सहन करके उत्तम अर्थरूप आत्मकल्याण को प्राप्त हुए।

- हस्तिनापुर के गुरुदत्त मुनि, द्रोणागिरि पर्वत पर, हण्डी के पकते अनाज की भाँति दग्ध होने पर भी उत्तम अर्थ को प्राप्त हुए।

- चिलातपुत्र नामक मुनि को किसी पूर्वभव के शत्रु ने तीक्ष्ण आयुध द्वारा घाव कर दिया, उस घाव में बड़े-बड़े कीड़े पड़ गये और उन कीड़ों से उनका शरीर चलनी की भाँति बिंध गया; तथापि वे संक्लेशरहित समताभाव से वेदना सहन करके उत्तमार्थ को प्राप्त हुए।

- यमुनावक्र के तीक्ष्ण बाणों द्वारा जिनका शरीर छिद गया है – ऐसे दण्ड मुनिराज, घोर वेदना को भी समभाव से सहन करके उत्तमार्थरूप

आराधना को प्राप्त हुए।

● कुम्भकार नगरी में कोल्हू में पिलने पर भी अभिनन्दनादि पाँच सौ मुनि समभावपूर्वक आराधना को प्राप्त हुए।

● सुबन्धु नामक शत्रु ने गौशाला में आग लगा दी; उसमें जलने पर भी चाणक्य मुनिराज, प्रायोपगमन संन्यास धारण करके संक्लेशरहित उत्तम अर्थ को प्राप्त हुए।

इसप्रकार उपसर्गादि वेदना प्रसंग आने पर भी आराधना में अडिग रहनेवाले अनेक शूरवीर मुनिवरो का स्मरण किया है।

सभी भव्य जीव ऐसे मंगलमय समाधिमरण को धारण कर अपने जीवन में की गई आत्मा की आराधना तथा धर्म की साधना को सफल करते हुए सुगति प्राप्त कर सकते हैं।

### उपसंहार

सारांश रूप में कहें तो आधि, व्याधि और उपाधि से रहित आत्मा के निर्मल परिणामों का नाम समाधि है। आधि अर्थात् मानसिक चिन्ता, व्याधि अर्थात् शारीरिक रोग और उपाधि अर्थात् पर के कर्तृत्व का बोझ - समाधि इन तीनों से रहित आत्मा की वह निर्मल परिणति है, जिसमें न कोई चिन्ता है, न रोग है और न पर के कर्तृत्व का भार ही है। एकदम निराकुल, परम शांत, अत्यन्त निर्भय और निशंक भाव से जीवन जीने की कला ही समाधि है। यह समाधि संवेग के बिना संभव नहीं और संवेग अर्थात् संसार से उदासी सम्यग्दर्शन के बिना संभव नहीं। सम्यग्दर्शन के लिए तत्त्वाभ्यास और भेदविज्ञान अनिवार्य है।

जिसे समाधि द्वारा सुखद जीवन जीना आता है, वही व्यक्ति सल्लेखना द्वारा मृत्यु को महोत्सव बना सकता है, वही शान्तिपूर्वक मरण का वरण कर सकता है।

समाधि और सल्लेखना को और भी सरल शब्दों में परिभाषित करें तो हम यह कह सकते हैं कि “समाधि समता भाव से सुख-शान्तिपूर्वक

## समाधिमरण पाठ

कविवर सूरचन्द के कुछ चुनिन्दा पद्यों का संकलन  
(नरेन्द्र छन्द)

वन्दो श्री अरहंत परमगुरु, जो सबको सुखदाई।  
इस जग में दुःख जो मैं भुगते, सो तुम जानो राई॥  
भव-भव में तन पुरुषतनों धर, नारी हू तन लीनों।  
भव-भव में मैं भयो नपुंसक, आतमगुण नाहिं चीनों॥  
भव-भव में गति नरकतनी धर, दुःख पाये विधि योगे।  
भव-भव में तिर्यच योनिधर, पायो दुःख अति भोगे॥  
भव-भव में जिन पूजन कीनी, दान सुपात्रहिं दीनो।  
भव-भव में मैं समवसरण में, देख्यो जिनगुण भीनो॥  
एती वस्तु मिली भव भव में, सम्यक्गुण नहिं पायो।  
ना समाधियुत मरण कियो मैं, तातैं जग भरमायो॥  
काल अनादि भयो जग भ्रमते, सदा कुमरणहिं कीनों।  
एक बार हूँ सम्यक्युत मैं, निज आतम नहिं चीनों॥  
जो निज पर को ज्ञान होय तो, मरण समय दुःख काँई।  
देह विनासी मैं निजभासी, जोतिस्वरूप सदाई॥  
विषयकषायन के वश होकर, देह आपनो जान्यो।  
कर मिथ्या सरधान हिये विच, आतम नाहिं पिछान्यो॥

यों कलेश हियधार मरणकर, चारों गति भरमायो ।  
 सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चरण ये, हिरदे में नहिं लायो ॥  
 मृत्यु मित्र उपकारी तेरो, इस अवसर के माहीं ।  
 जीरन तनसे देत नयो यह, या सम साहू नाहीं ॥  
 या सेती इस मृत्यु समय पर, उत्सव अति ही कीजै ।  
 क्लेश भाव को त्याग सयाने, समताभाव धरीजै ॥  
 जो तुम पूरव पुण्य किये हैं, तिनको फल सुखदाई ।  
 मृत्यु मित्र बिन कौन दिखावै, स्वर्ग संपदा भाई ॥  
 राग-रोष को छोड़ सयाने, सात व्यसन दुःखदाई ।  
 अन्त समय में समता धारो, परभव पंथ सहाई ॥  
 मृत्युराय को शरन पाय, तन नूतन ऐसो पाऊँ ।  
 जा मैं सम्यक्करतन तीन लहि, आठों कर्म खपाऊँ ॥  
 यह सब मोह बढ़ावन हारे, जियको दुर्गति दाता ।  
 इनसे ममत निवारो जियरा, जो चाहो सुख साता ॥  
 मृत्यु कल्पद्रुम पाय सयाने, मांगो इच्छा जेती ।  
 समता धरकर मृत्यु करो तो, पायो संपति तेती ॥  
 चौ आराधन सहित प्राण तज, तौ ये पदवी पावो ।  
 हरि प्रतिहरि चक्री तीर्थेश्वर, स्वर्गमुक्ति में जावो ॥  
 मृत्युकल्पद्रुम सम नहि दाता, तीनों लोक मझारे ।  
 ताको पाय कलेश करो मत, जन्म जवाहर हारे ॥

रोगशोक आदिक जो वेदन, ते सब पुद्गल लारै ।  
 मैं तो चेतन व्याधि बिना, नित ऐसो भाव हमारै ॥  
 या तनसों इस क्षेत्र संबंधी, कारण आन ठन्यो है ।  
 खानपान दे वाको पोष्यो, अब समभाव तन्यो है ॥  
 बिन समाधि ये दुःख लहे मैं, अब उर समता आई ।  
 मृत्युराज को भय नहीं मानो, देयै तन सुखदाई ॥  
 यातैं जब लग मृत्यु न आवै, तब लग जपतप कीजै ।  
 जब तप बिन इश जग के मांही, कोई भी न सीजै ॥  
 मन थिरता करके तुम चिंतो, चौ आराधन भाई ।  
 ये ही तोकों सुख की दाता, और हितू कोउ नाहीं ॥  
 आगैं बहु मुनिराज भये हैं, तिन गहि थिरता भारी ।  
 बहु उपसर्ग सहे शुभ भावन, आराधन उरधारी ॥  
 तिनमैं कछु इक नाम कहूँ मैं, सो सुन जिय चित लाकै ।  
 भाव सहित अनुमोदे तासों, दुर्गति होय न ताके ॥  
 अरु समता निज उर में आवै, भाव अधीरज जावै ।  
 यों निशदिन जो उन मुनिवर को, ध्यान हिये बिच लावै ॥  
 धन्य-धन्य सुकुमाल महामुनि, कैसे धीरज धारी ।  
 एक श्यालनी जुग बच्चाजुत, पाँव भख्यों दुःखकारी ॥  
 यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी ।  
 तो तुमरे जिय कौन दुःख है? मृत्यु महोत्सव भारी ॥  
 धन्य धन्य जु सुकौशल स्वामी, व्याघ्री ने तन खायो ।  
 तौ भी श्रीमुनि नेक डिगो नहिं, आतम सो चित लायो ॥ यह उपसर्ग ॥

देखो गजमुनि के शिर ऊपर, विप्र अग्नि बहु बारी ।  
 शीश जलै जिम लकड़ी तिनको, तो भी नाहिं चिंगारी ॥यह उपसर्ग ॥  
 सनतकुमार मुनि के तन में, कुष्ट वेदना व्यापी ।  
 छिन्न-भिन्न तन तासों हूवो, तब चिंत्यो गुण आपी ॥यह उपसर्ग ॥  
 समंतभद्र मुनिवर के तन में, क्षुधा वेदना आई ।  
 तौ दुःख में मुनि नेक न डिगियो, चिंत्यो निजगुण भाई ॥यह उपसर्ग ॥  
 सातशतक मुनिवर दुःख पायो, हथनापुर मैं जानो ।  
 बलि ब्राह्मणकृत घोर उपद्रव, सो मुनिवर नहिं मानो ॥यह उपसर्ग ॥  
 लोहमयी आभूषण गढ़ के, ताते कर पहराये ।  
 पाँचों पाँडव मुनि के तन में, तो भी नाहिं चिंगाये ॥यह उपसर्ग ॥  
 और अनेक भये इस जगमें, समता रसके स्वादी ।  
 वे ही हमको हो सुखदाता, हरहैं टेव प्रमादी ॥  
 सम्यक्दर्शन ज्ञान चरन तप, ये आराधन चारों ।  
 ये ही मोकों सुख की दाता, इन्हें सदा उर धारों ॥  
 यों समाधि उरमाहि लावों, अपनों हित जो चाहो ।  
 तज ममता अरू आठों मदको, जोति स्वरूपी ध्यावो ॥  
 अब परगति को चालत बिरियां, धर्म ध्यान उर आनो ।  
 चारों आराधन आराधो, मोहतनों दुःख हानो ॥  
 होय निःशल्य तजो सब दुविधा आतम राम सुध्यावो ।  
 जब परगति को करहु पयानों, परम तत्त्व उर लावो ॥  
 मोह जाल को काट पियारे, अपनो रूप विचारो ।  
 मृत्यु मित्र उपकारी तेरी, यों उर निश्चय धारो ॥

## श्री रतनचंदजी भारिल्ल के प्रति मुनिराजों के आशीर्वचन

### बहुत-बहुत मंगल आशीर्वाद

धर्मानुरागी विद्वान पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल वर्तमान जैनसमाज के उच्चकोटि के विद्वानों में से एक हैं। वर्तमान में वे जिसप्रकार एक दीपक से हजारों दीपक जलते हैं, एक बीजान्न से अनेक बीजान्न उत्पन्न होते हैं, उसीप्रकार अनेक विद्वानों को तैयार कर जिनवाणी की महान सेवा कर रहे हैं।

पण्डितजी एक सिद्धहस्त एवं आगमनिष्ठ लेखक भी हैं। उनका ज्ञान अत्यन्त प्रमाणिक है, जो उनकी प्रत्येक कृति में अभिव्यक्त हो रहा है, चाहे वह 'जिनपूजन रहस्य' हो, चाहे 'णमोकार महामंत्र'। मुझे उनकी किसी भी कृति में एक अक्षर भी आगमविरुद्ध लिखा नहीं मिला। उनके सार्वजनिक अभिनन्दन के इस अवसर पर मेरा बहुत-बहुत मंगल आशीर्वाद है, वे स्वस्थ एवं दीर्घायु होकर विद्वानों को तैयार करते रहें और श्रेष्ठ साहित्य का सृजन करके साहित्य सेवा भी करते रहें।

● राष्ट्रसंत आचार्य श्री विद्यानन्दजी महाराज

### अत्यन्त सरल स्वभावी विद्वान

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल अत्यन्त सरलस्वभावी व जिनागम के ज्ञाता विद्वान हैं। उन्होंने अत्यन्त सरल शब्दों में श्रावकाचार, जिनपूजन रहस्य जैसी अनेकों जैनधर्म की सामान्य परन्तु महत्वपूर्ण ज्ञानवर्द्धक पुस्तकों की रचना की है। अभी उन्होंने शलाकापुरुष एवं हरिवंशकथा जैसी प्रथमानुयोग की अनुपम पुस्तकों का भी सुन्दर लेखन किया है। पण्डित रतनचन्द भारिल्ल जैन समाज में इसीप्रकार जिनवाणी का प्रचार-प्रसार करते रहें - हमारा यही मंगल शुभ आशीर्वाद है।

● आचार्यश्री धर्मभूषणजी महाराज

### कोटिशः शुभाशीष

धर्मानुरागी पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल समाज के सुयोग्य विद्वान हैं और अच्छे तत्त्वप्रचारक हैं। समाज ने इनका अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशित करने का सफल प्रयास किया है, जो प्रशंसनीय है। समाज इसीप्रकार सरस्वती पुत्रों का सम्मान करती रहे, जिससे विद्वानों के द्वारा जिनवाणी का प्रचार-प्रसार हो सके। अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति को कोटिशः शुभाशीष सद्धर्मवृद्धिरस्तु।

● आचार्यश्री भरतसागरजी महाराज